RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-03
Issue-11
November -2018

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com [UGC Listed Journal]

भारतीय दर्शन में जाति (एक सिंहावलोकन)

डॉ. सरोज गुप्ता

सत्यवती महाविद्यालय, दिल्ली

भारतीय दर्शन में जाति-व्यक्ति की समस्या शब्द के शक्तिग्रह की समस्या से संबंधित है। जिस प्रकार हमारे ज्ञान के विषय में यह प्रश्न उठता है कि वह सामान्य रूप होता है अथवा विशिष्ट। उसी प्रकार भाषा में भी यह समस्या होती है कि शब्द से अर्थ की प्रतीति जाति द्वारा होती है अथवा व्यक्ति द्वारा। इन समस्याओं का भारतीय दर्शन के प्रत्येक सम्प्रदाय ने तथा व्याकरण दर्शन ने विस्तृत विवेचन किया है।

वैयाकरण जाति और व्यक्ति के किसी भी एकान्त पक्ष का आश्रय न लेकर दोनों को ही पद का अर्थ कहते हैं। प्राचीन वैयाकरणों में वाजप्यायन द्वारा स्थापित 'आकृतिवाद' तथा व्याडि के द्रव्यवाद के स्पष्टीकरण और समर्थन के हेतु ही पतञ्जलि और वैयाकरणों ने समन्वय को अपनाया। उन्होंने वक्ता की इच्छा को सर्वोपरि मानकर वक्ता द्वारा जाति अभीष्ट होने पर व्यक्ति गौण माना और व्यक्ति अभीष्ट होने पर जाति को गौण कहा। इस प्रकार वैयाकरणों ने जातिवाद और द्रव्यमान दोनों की स्थापना की।

न्याय-वैशेषिक का सामान्य (जाति) संबंधी सिद्धान्त बृहद्वस्तुवाद (म्गजतमउम त्मंसपेउ) कहलाता है। इसके अनुसार नित्य सामान्य विभिन्न व्यक्तियों में अनुस्यूत एक भावभूत पदार्थ है - **नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्।** सामान्य-विकारों से रहित, सत्ता युक्त, नित्य तथा एक है। जबकि व्यक्ति इसके विपरीत जन्म आदि से युक्त, सत्ता रहित, अनित्य तथा अनेक है। परन्तु उनका यह अन्तर उनके प्रगाढ़ सम्बन्ध का बाधक नहीं है अपितु वह सम्बन्ध 'समवाय' कहलाता है। यह सम्बन्ध इन दोनों-जाति और व्यक्ति से भिन्न एक अन्य पदार्थ है जो इन दोनों को युक्त करता है। 'सत्ता-जाति' को न्याय-वैशेषिक ने 'महासामान्य' माना है। दृश्यमान जगत् की समस्त जातियों में सत्ता-जाति प्रमुख है। शेष परापर जाति उसके ही अंश हैं। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक ने जात्याकृतिविशिष्ट व्यक्तिवाद का प्रतिपादन किया। जाति सम्बन्धी इस समस्या को उठाकर न्याय-वैशेषिक दर्शन ने एक महान परम्परा प्रवर्तित कर दी जो छह सौ से अधिक वर्षों तक चलती रही।

मीमांसा दर्शन ने अपने 'जातिवाद' के सिद्धान्त में न्याय-वैशेषिक के समान ही जाति सम्बन्धी समस्या को सुलझाया और जातिवाद की स्थापना की। न्याय और प्रभाकर सम्प्रदाय ने दोनों जाति और व्यक्ति का 'समवाय' संबंध माना। दूसरी तरफ भाट्ट संप्रदाय ने 'समवाय' में दोष दिखाकर जाति और व्यक्ति का 'भेदाभेद' (तादात्म्य) संबंध माना। यदि न्याय के 'समवाय' सिद्धान्त को दोष पूर्ण मान लिया जाये तो कुमारिल भट्ट का 'तादात्म्य' सिद्धान्त भी उसके ही तर्क से दोषपूर्ण दिखाई देता है। जाति नित्य, परिवर्तन-रहित एक सत्ता है उसका अनित्य, परिवर्तनशील व्यक्ति से 'तादात्म्य' कैसे माना जा सकता है। पार्थसारथि मिश्र ने कुमारिल भट्ट के मत की रक्षा के लिए कई तर्क उपस्थित किये। वस्तुतः कुमारिल भट्ट ने बौद्धों के प्रहारों से बचने के लिए समवाय से उत्पन्न कठिनाइयों को दूर किया, इसलिए जाति और व्यक्ति को भिन्न पदार्थ न मानकर 'तादात्म्य' युक्त माना।

जैनदर्शन का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि जैन संप्रदाय किसी एक निश्चित मत को नहीं मानते। उनमें मुख्यतः तीन मत दिखाई देते हैं। प्रथम मत में समन्तभद्र, मल्लिषेण आदि दार्शनिक पदार्थ को सामान्य और विशेष रूप कहते हैं। कोई भी वस्तु न तो केवल सामान्य और न केवल विशेष रूप होती है। एक ही गाय अन्य गायों से सामान्यात्मक और दूसरे पदार्थों से भिन्नात्मक विशेष रूप भी एक साथ दिखाई देती है। अतः सामान्य तादात्म्य रूप और भिन्न रूप होता है। यह मत जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त के निकट प्रतीत होता है क्योंकि यह इनके अनेकान्तवाद और स्यादवाद का पोषक है। दूसरे मत में अभयदेवसूरि बौद्धों के प्रभाव में आकर पदार्थ को 'अपोह' रूप मानते हैं। सामान्य केवल विशेषों का मिश्रण है जिनमें कुछ भी समानता नहीं है। तीसरे मत के पोषक प्रभाचन्द्र आदि सामान्य को विशेषों का सदृश परिणाम कहते हैं किन्तु इसे 'समानधर्मयुक्त' नहीं मानते। यदि 'अ' का 'ब' से सदृश परिणाम 'ब' का 'अ' से सदृश परिणाम परस्पर भिन्न है तो वे दोनों समान कैसे कहला

RRIJM 2015, All Rights Reserved

सकते हैं। इसीलिए प्रभाचन्द्र का यह मत स्वयं असिद्ध हो जाता है।

अद्वैत वेदान्तवादी जाति के सिद्धान्त को अपने एकमात्र तत्त्व 'ब्रह्मसत्ता' की दृष्टि से देखते हैं। इसलिए वे जाति को निराधार, अयथार्थ कहते हैं और जाति-व्यक्ति आदि को ब्रह्मरूप एकमात्र सत्ता के ही नामरूप घोषित करते हैं। अद्वैतवादी न्यायसम्मत जाति का खण्डन इसलिए करते हैं क्योंकि न्याय का नित्य और व्यापक जाति तत्त्व स्पष्टतया उनके मूलतत्त्व अद्वैत ब्रह्मसत्ता से भिन्न है। वेदान्त संप्रदाय द्वारा यथार्थवाद का विस्तृत खण्डन किया गया है। उनके मत में जाति अनुगत प्रतीति का कारण नहीं है क्योंकि यह कारणता लक्षण-सामग्री और धर्मादि में अतिव्याप्त है। जाति को यदि नित्यत्वयुक्त अनुगत धर्म मानें तो वह जाति नित्यत्व युक्त परमाणुओं में अतिव्याप्त है अर्थात् वहाँ विद्यमान नहीं है आदि आदि। वेदान्त ने जाति-संबंधी सभी परिभाषाओं का खण्डन किया है। जाति के नित्यत्व, सत्ता, सर्वगतत्त्व आदि का नवीन तर्कों से खण्डन किया। मुख्यत: यह दृष्टिगोचर होता है कि वेदान्तवादी यथार्थवाद के खण्डन में ही लगे रहे, उन्होंने शब्द की समस्या के विषय में अपने सिद्धान्त ही नहीं दिये। पश्चाद्वर्ती वेदान्त दार्शनिकों में वेदान्तपरिभाषाकार ने शब्द के शक्तिग्रह की समस्या को उठाया और घट पदार्थ को घटत्व-जाति विशिष्ट घट-व्यक्ति माना और महत्त्वपूर्ण तर्कों से अपना सिद्धान्त स्थापित किया।

बौद्धों के अपोहवाद का उदय उनके क्षणभङ्गवाद की पुष्टि के लिए हुआ। जाति को नित्य, भावभूत पदार्थ न मानने का उनका कारण यह है कि उनके क्षणभङ्गवाद के अनुसार सब कुछ क्षणिक है, अस्थायी है। बौद्ध जब अनुगत प्रतीति के कारण 'सामान्य' नामक पदार्थ को नहीं मानते तो वे अपोह की कल्पना करके एकाकार प्रतीति की समस्या का समाधान ढूंढ़ते हैं। अपोह है - तद्भिन्न भिन्नत्व। अर्थात् घट भिन्नसम्पूर्ण जगत् उससे भिन्न-फिर घट ही होगा इसलिए प्रत्येक घट अतदृव्यावृत्त या तद्भिन्न से भिन्न है। अतएव सामान्य का अर्थ 'अपोह' से निकल जाता है। दिङ्नाग विशेषों में कोई सामान्य सत्ता नहीं मानते। शाब्दिक ज्ञान साक्षात् न होकर अनुमानात्मक, सापेक्षित और अपोहात्मक होता है। बुद्धि अपने अर्थ का विधान किसी भिन्न का प्रतिषेध या अपोहन द्वारा ही करती है। धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के सिद्धान्त को विकसित करते हुए शब्द के दो अर्थों का भी बहिष्कार किया कि शब्द प्रत्यक्ष रूप से न तो अर्थ का कथन करता है और न ही परोक्ष रूप से विपरीत अर्थ का निषेध भी करता है। उनके मत में विधि रूप अर्थ की सत्ता निषेधात्मक अर्थ के ग्रहण पर ही संभव है। आगे चलकर शान्तरक्षित ओर उसके टीकाकार कमलशील ने कुमारिल भट्ट के आक्षेपों का उत्तर देते हुए अपोहवाद के रूप में किंचित् परिवर्तन किया। उन्होंने अपोह को प्रसज्य-प्रतिषेध रूप न मानकर पर्युदास रूप माना। उन्होंने पूर्वमत की भाँति अर्थ को पूर्ण निषेधात्मक न मानकर प्रत्यक्ष में विधिरूप और उस विधिरूप के द्वारा अनुक्रमण से अतद्निषेधात्मक रूप अर्थ माना। तदनन्तर नैयायिकों और मीमांसकों के अधिक प्रहारों को झेलते हुए बौद्ध दार्शनिक रत्नकीर्ति ने अपोह को अतद्निषेध रूप और विधि रूप-दोनों को माना। उन्होंने अपोह की अपेक्षा 'विशिष्टापोह' की स्थापना की। विशिष्टपोह अर्थात् अन्य के अपोहन या व्यावर्तन से युक्त 'विधि' - ही शब्दार्थ है। इस प्रकार रत्नकीर्ति ने अपने पूर्वाचार्यों के मत के विरुद्ध विधि को प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार कर अपोहवाद को अंतिम रूप प्रदान किया।

इस प्रकार आगे चलकर न्याय-वैशेषिक और मीमांसा का ब्राह्यार्थवाद और बौद्धों का अपोहवाद स्थापित हुए। सर्वप्रथम दिङ्नाग और धर्मकीर्ति द्वारा न्याय-मीमांसा के सामान्य विषयक सिद्धांतों की आलोचना की गई जिसका मीमांसक कुमारिल भट्ट और नैयायिक उद्योतकर ने स्पष्टतया उत्तर दिया और बौद्धों के अपोहवाद में अनेक दोष दिखाये। कुमारिल भट्ट आदि के द्वारा किये गये धर्मकीर्ति के आक्षेपों का उत्तर देते हुए बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित और कमलशील ने बौद्ध सम्मत अपोहवाद का पुनर्गठन किया। शान्तरक्षित आदि के सिद्धान्तों को तोड़ते हुए आगे चलकर नैयायिक वाचस्पति मिश्र ने अपोहवाद को अपने प्रहारों से जर्जर बना दिया। उन्होंने बौद्धों के सादृश्य ओर भेदाग्रह विषयक सिद्धान्तों को अपना लक्ष्य बनाकर आलोचना और प्रत्यालोचना के इतिहास को आगे बढ़ाया और अपोहवाद को पुन: प्रश्नों के घेरे में लाकर खड़ा कर दिया। बौद्धों के अंतिम महत्त्वपूर्ण दार्शनिक रत्नकीर्ति, जो यथार्थवादियों के प्रहारों से तंग आ चुके थे, ने अपोहवाद के कुछ सिद्धान्तों में परिवर्तन किया और वाचस्पति मिश्र के आक्षेपों का समाधान किया। रत्नकीर्ति के नवीन सिद्धान्तों को अपनी आलोचना का आधार बनाकर अंतिम नैयायिक उदयन ने अपने तर्कों से अपोहवाद को पुन: कमजोर कर दिया तथा यथार्थवाद को अंतिम रूप प्रदान किया।

इस प्रकार यथार्थवाद और अपोहवाद की आलोचना और प्रत्यालोचना का यह इतिहास छ: सौ वर्षों (5वीं शती से 11वीं

शती) तक चलता रहा और भारतीय दर्शनों ने इसी कारण अपने धर्म-सिद्धान्तों में नये-नये आयाम प्रस्तुत किये।

इस प्रकार उपर्युक्त भारतीय विभिन्न दार्शनिकों के मतों के पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्दार्थ में जाति का अस्तित्व सर्वतोभावेन रहता ही है, चाहे वह व्यक्तिवाचक शब्द हो अथवा जातिवाचक। शुद्ध रूप से सभी शब्दों को केवल जातिवाचक मानने पर अवश्य ही कुछ असमाधेय विप्रतियाँ उत्पन्न होती हैं। इसलिए वैयाकरण पतञ्जलि और भतृहरि ने जाति-व्यक्ति उभय को पदार्थ मानना ही न्यायसंगत समझा। व्यवहार में भी देखा जाता है कि शब्दों का प्रयोग दोनों रूपों में होता है। जैसे-'राम एक अच्छा बालक है।' इस वाक्य में 'राम' शब्द एक व्यक्ति का बोध कराता है और 'अच्छा' शब्द कुछ सामान्य धर्मों (शील, सदाचार, कर्त्तव्यनिष्ठता) का। अतः इसे जातिबोधक माना जा सकता है। 'छात्र कक्षा में पढ़ रहे हैं' - इस वाक्य में जातिवाचक 'छात्र' शब्द व्यक्तिबोधक हो गया है। अतः जाति और व्यक्ति दोनों में वाचक शब्दों का प्रयोग होता है किन्तु यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो यह देखने को मिलेगा कि कोई भी शब्द नितान्त वैयक्तिक नहीं होता है। जैसे - 'अश्व लाओ' में 'अश्व' शब्द व्यक्तिबोधक है तथापित अवबोद्धा या प्रयोक्ता दोनों की बुद्धि में अश्व का आकार-प्रकार, गुण-धर्म आदि अर्थात् अश्व जाति का ज्ञान पहले होता है, तदनन्तर तत्संबंधित एकत्व का बोध होता है। अतः शब्द से व्यक्ति का ज्ञान भी जाति सम्प्रत्यापित ही होता है, जाति विरहित नहीं। जातिवाचक शब्दों में भी जाति-विशेष घटत्वादि का अन्य जातियों पटत्व आदि से व्यावर्तन के लिए, व्यक्तिरूप अर्थ की भावना छिपी रहती है। जातिवाचवक शब्द से भी व्यक्ति का अमुख्यतया भान होता है। अतः पतञ्जलि एवं भर्तृहरि के अनुसर यह कहा जा सकता है कि वक्ता की इच्छानुसार कहीं पर शब्द का अर्थ जातिबोधक होता है और कहीं पर व्यक्ति बोधक, किन्तु जातिबोधक पदार्थों में जाति प्रमुख और व्यक्ति गौण रूप में रहती है, तथा व्यक्तिबोधक पदार्थों में व्यक्ति प्रमुख तथा जाति गौण रूप में रहती है।

अपोहवाद का विवेचन देखने से यह प्रतीत होता है कि जहाँ यह सिद्धान्त कुछ अंशों में तो असंगत प्रतीत होता है वहीं उसका तार्किक ढंग एकदम निराधार नहीं है। आर.सी. पाण्डेय के मतानुसार अनुभूति के आधार पर अपोह या अतद्व्यावृत्ति रूप अर्थ को पूर्णतः काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। लोक-व्यवहार में जब हम किसी अर्थ से भली-भाँति परिचित नहीं होते हैं, उस समय तद्वाचक शब्द के उच्चारण में पड़ जाते हैं और उस शब्द के अर्थ को ज्ञात करने के लिए एक-एक पदार्थ का निषेध करते जाते हैं और अन्त में उस पदार्थ का ज्ञान कर पाते हैं जो उस शब्द का वाच्य होता है।

किसी नगर में प्राप्तव्य गृह को ढूंढ़ने में सड़क के किनारे के अन्य सभी को एक-एक करके निषेध करते जाने पर ही हम अभीष्ट गृह को प्राप्त कर पाते हैं। इसी प्रकार सामान्यतः अल्प-परिचित सभी वस्तुओं के शब्दार्थ के लिए उहापोह होता है और तब अर्थ का ज्ञान होता है। जिन अर्थों के साथ अभ्यास दृढ़ हो गया है उनके ज्ञान के लिए भी वही प्रक्रिया व्यवहृत होती है, किन्तु वह इतनी सूक्ष्म होती है कि उसका अनुभव नहीं कर पाते। अतः अतद्व्यावृत्ति रूप अर्थ की मान्यता बौद्धिक अनुभूति का विषय है तथा लोक-व्यवहार पर आश्रित है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **'गोरित्यत्र कः शब्दः?'** प्रश्न के उत्तर में जिस प्रक्रिया को लिखा है वह भी अपोहरूपात्मक ही है। गोनिष्ठ जाति, गुण, क्रिया अर्थात् शब्द से भिन्न का निषेध करके ही शब्द का विधान किया है। भतृहरि ने भी अपोहवाद का खण्डन नहीं किया है। अतः अपोह का व्यावहारिक अनुभूति के कारण भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्व भी कहा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परस्पर आलोचना और प्रत्यालोचना का यह क्रम भारतीय दर्शन में 600 वर्ष तक चलता रहा। जिसके फलस्वरूप यह समय भारतीय दर्शन का स्वर्णयुग कहा गया।

RRIJM 2015, All Rights Reserved